

वर्णित है उसे 'वैदिक परम्परा' और उसके अलावा जो कुछ भी है उसे 'लौकिक परम्परा' के अंतर्गत माना गया है। लेकिन जिस 'लोक साहित्य' का प्रयोग आज चहुँओर देखने को मिलता है वह वास्तव में अंग्रेजी के 'फोक लिटरेचर'[1] का अनुवाद है। आज लोक अथवा लोक जीवन को सिर्फ विमर्श का बिंदु ही नहीं बल्कि साहित्य के अभिन्न अंग के रूप में देखा जाता है। वास्तव में 'लोक' शब्द अत्यंत प्राचीन है लेकिन 'लोक की अवधारणा' एक नवीन दृष्टि है। इसी प्राचीनता को लेकर कुंदन लाल उप्रेती कहते हैं कि- "वास्तव में 'लोक' शब्द अत्यंत प्राचीन है। परन्तु आधुनिक युग में अध्ययन की नई दिशाओं के 'लोक' शब्द साहित्य में एक नये महत्वपूर्ण विशेषण के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। फिर भी 'लोक' की सही-सही तथा पूर्ण व्याख्या न हो पाने के कारण इससे सम्बंधित विषयों का शास्त्रीय एवं कलात्मक पक्ष भी अपूर्ण है।"[2]

'लोक' शब्द के सन्दर्भ में डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं कि- "लोक एक भौगोलिक शब्द है। इसे लेकर विविध लोकों की कल्पना की गई है। ऋग्वेद में(3/53/21) लोक जीव एवं जगत के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे इतर वेदों में दिव्य और पार्थिव लोकों की कल्पना की गई है। उपनिषदों में दो लोक माने गये हैं- इहलोक और परलोक। निरुक्ति में तीन लोकों का उल्लेख मिलता है- पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यूलोक। दूसरे शब्दों में इन्हें भूः, भुवः और स्वः कहते हैं। पौराणिक कालों में सात लोकों एवं सात पातालों का उल्लेख मिलता है। चूँकि अब परलोक की कल्पना, कल्पना मात्र रह गई है, अतः लोक 'इहलोक' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लोक धर्म कहने से लोक का अर्थ जनसामान्य हो जाता है।"[3] इसी तरह लोकसाहित्य का अर्थ हमें जनसामान्य का साहित्य समझना चाहिए।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'लोक' तथा 'सर्वलोक' शब्दों का प्रयोग मिलता है। जिसका प्रयोग 'लौकिक' तथा 'सार्वलौकिक' शब्दों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हुआ है। पाणिनि ने वेद से अलग 'लोक' को स्थापित किया। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में अनेक नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। महाभारत में 'लोकयात्रा' का उल्लेख मिलता है।[4] महर्षि व्यास ने भी महाभारत की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह ग्रन्थ अज्ञान रूपी अन्धकार से अंधे होकर व्यथित लोक (साधारण जनता) की आँखों को ज्ञान रूपी अंजन की क्षाका लगाकर खोल देता है।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' के सम्बन्ध में अपने विचार को प्रकट करते हुए लिखा है कि- 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचिसंपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों कि अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।"[5]

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है- "आधुनिक सभ्यता से दूर, अपनी सहज तथा प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान, तथाकथित असभ्य एवं अशिक्षित जनता को 'लोक' कहते हैं जिनका जीवन-दर्शन और रहन-सहन प्राचीन परम्पराओं, विश्वासों तथा आस्थाओं द्वारा परिचालित एवं नियंत्रित होता है।"[6] इससे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति तथा परिष्कृत लोगों से या लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हैं, उन्हें 'लोक' की संज्ञा प्राप्त है। अर्थात् अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को खोए हुए लोगों की पहचान कराने वाले साहित्य को लोक-साहित्य कहा जा सकता है। यह साहित्य प्रायः मौखिक और लिखित दोनों रूपों में मिलता है, परन्तु अधिकांश लोक-साहित्य मौखिक ही होता है, तभी इसमें जीवन्तता बनी रहती है। यह साहित्य लिपि में बद्ध होकर एकरूप नहीं होता है। अर्थात् 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार से रहित हो जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।

'लोक' की सामूहिक पहचान होती है। लोक में आनेवाला वह प्रत्येक जन समुदाय अपनी संस्कृतियों को ग्रहण करने हेतु वाचिक परम्परा की सहायता लेता है। यही नहीं लोक साहित्य अपने अंचल की लोक संस्कृति को भी अभिव्यक्त करता है। इस साहित्य में अभिव्यक्त जीवन के प्रति उत्साह, उल्लास, आशा, आस्था, श्रम और जिजीविषा का वर्णन मिलता है। भारतीय समाज में अनेक लोक, रंग एवं आस्थाएं दिखाई पड़ती हैं। यहाँ लोक रंग से मतलब है जो जीवन में हर्षोल्लास तथा आनंद का वातावरण दे सके जिससे जीवन को आगे बढ़ने में उर्जा मिले जैसे पर्व-त्यौहार, गीत आदि। डॉ. सत्येन्द्र ने 'लोक' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[7] इसलिए कहा जा सकता है कि लोक साहित्य उतना ही स्वच्छंद है जितना आकाश में उड़ता हुआ पक्षी, जिसके सामने ना कोई दीवार होती है और ना कोई सीमा।

लोक साहित्य का सृजनकर्ता कौन है यह आज तक किसी को नहीं पता चल पाया। लोक साहित्य में लोक की चेतना सदैव समाज की परम्परा और परिस्थितियों पर आधारित होती है। लोक साहित्य स्वतः सृजित प्रक्रिया है। लोक साहित्य के उत्थान को लेकर कुंदनलाल उप्रेती जी ने कहा है कि- "लोकसाहित्य रचा नहीं जाता, वह बादलों की तरह झरता और घास की तरह उगता है। वह अपने क्षेत्र की मिट्टी-पानी में ठीक उसी रूप में उगता और फलता-फूलता है जिस रूप में समाज के लिये वह उपयोगी सिद्ध होता है।"[8]

लोक साहित्य के विभिन्न रूपों से मालूम होता है कि उसके पीछे अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक कारण होते हैं, क्योंकि लोक साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है। इसमें विभिन्न प्रकार के लोकगीत, कथा तथा कहावतों का ढेर मिलता है। लोक साहित्य हमें पारिवारिक जीवन के कुछ महत्वपूर्ण चित्र प्रदान करता है। जैसे- माता-पुत्री, पिता-पुत्र, भाई-बहन, सास-बहू, नन्द-भावज, पति-पत्नी के परस्पर मधुर तथा कटु संबंधों की झलक हमें लोक

साहित्य में देखने को मिलती है। लोक में अनमेल विवाहों की भी खुशबू मिलती है। लोक साहित्य में राष्ट्रीयता के उद्बोधन का स्वर भी मिलता है। युग की बदली परिस्थितियों ने लोक साहित्य में एक नई चेतना को जन्म दिया।

लोक में जहाँ बालविवाह, वृद्धविवाह, पर्दा-प्रथा जैसी रूढ़ियाँ और कुप्रथाएँ भी मौजूद हैं। वहीं जातिवाद, स्त्रियों की उपेक्षा, जादू-टोना, शोषण आदि की प्रवृत्ति भी लोक से ही निर्मित होती है। इस तरह लोक हमारे जीवन के लिए उर्जा का स्रोत है तो गंदे पानी की धारा भी।

लोक गीतों तथा लोकगाथाओं में स्थानीयता का बड़ा महत्व होता है। जिनके उद्घाटन से हमारे विलुप्त तथा विस्मृत इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है तथा इतिहास के बिखरे हुए अंशों को इकट्ठा किया जा सकता है। चाहे वह उत्तर प्रदेश का लोक साहित्य हो या फिर राजस्थानी या किसी भी अन्य प्रदेश का। लोक साहित्य आम जन के भाव बोध के साथ-साथ राष्ट्रीयता के स्वर को भी समाहित करता है। लोक साहित्य प्रकृति के काफी निकट है प्रकृति से सम्बन्धित सभी चीजें इसके विषय वस्तु के अंतर्गत आती हैं। डॉ. नामवर सिंह भी इस बात को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि- “सच्चे देश प्रेम के लिए आवश्यक है अपने देश के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-नाले, पहाड़-झरने, ग्राम-प्रांतर तथा यहाँ के रहनेवाले लोगों से घनिष्ठ परिचय तथा सहज स्नेह।” [9] अर्थात् लोक साहित्य में अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम के साथ-साथ राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु से प्रेम रहता है। लोक साहित्य में स्वाधीनता संग्राम की भी अभिव्यक्ति है जैसे महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुए उनका वर्णन भी लोकगीतों में मिलता है। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को समान अधिकार दिलाने के लिए जो अहिंसात्मक युद्ध किया था

‘लोक’ को परिभाषित करते हुए डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है- “लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजाति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथिवी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्मशास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार, और निर्माण का नवीन रूप है। लोकपृथिवी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।” [10] डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने ‘लोक की अवधारणा’ को आधुनिकतावादी दृष्टि से देखा और उसकी व्याख्या राष्ट्रवाद एवं मानववाद को केंद्र में रखकर की।

लोक साहित्य के अंतर्गत ग्रामीण तथा जनपदीय दोनों प्रकार के साहित्य आते हैं, क्योंकि ‘लोक’ शब्द का सम्बन्ध ग्रामीण एवं जनपद दोनों ही परिवेश से है। लोक साहित्य का सर्वप्रथम संकलन रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम-गीतों तथा ग्राम-साहित्य के रूप में किया। रामनरेश त्रिपाठी जी ने ‘फोक’ का अनुवाद ‘ग्राम’ किया। [11] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ‘लोक’ को कई आयामों में देखते हैं। उनके लिए यह अधिकांश जन की आस्था, अस्मिता और आकांक्षा को सींचने वाली ऊर्जा है। उनके अनुसार, “लोक शब्द

का अर्थ ‘जनपद’ या ‘ग्राम्य’ नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि-संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।” [12]

द्विवेदी जी लोक की परिभाषा में गाँवों के साथ-साथ नगरों की वैसी जनता को जोड़ते हैं जो अशिक्षित, असंस्कृत और मेहनतकश है। शहर के अनपढ़ मजदूरों एवं गाँव के किसानों तथा मजदूरों की स्थिति लगभग एक समान होती है। दोनों ही शोषण के शिकार हैं। द्विवेदी जी ने ‘नगरों की जनता’ का प्रयोग जिस अर्थ में किया है, उसका सम्बन्ध श्रम एवं अशिक्षा से है। द्विवेदी जी ‘लोक’ शब्द का व्यापक रूप में अर्थग्रहण करते हैं और इतिहास के उन तमाम उपेक्षित, अछूते लोगों तथा उनकी रचनाओं को अपने साहित्य में स्थान देते हैं। यही कारण है कि द्विवेदी जी ने अपने साहित्य के इतिहास में सिद्धों एवं नाथों को प्रमुखता से स्थान दिया है। परन्तु शुक्ल जी ने उनमें साहित्यिकता न होने की वजह से उन्हें शिष्ट साहित्य में स्थान नहीं दिया है। शुक्ल जी के अनुसार- “उनकी रचनाएं तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोधी भीतरी चक्रकों और नाडियों की स्थिति, अंतमुख साधना के महत्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आती।” [13] आदिकाल के नाथों, सिद्धों एवं भक्तिकाल के निर्गुण संतों के मूल्यांकन में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कहना है- “संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है।” [14] जबकि डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी- “हिंदी साहित्य के इतिहास को संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि साहित्यिक परम्पराओं के सन्दर्भ में देखते हैं और हिन्दू धर्म तथा सनातन धर्म के साथ जैन, बौद्ध, नाथ, सिद्ध, संत आदि परम्पराओं का विधिवत् विश्लेषण करते हैं।” [15] इस प्रकार वे लोक की परम्पराओं को साहित्य में स्थापित करते हैं। भक्तिकाल के मूल्यांकन में शुक्ल जी के नायक तुलसी हैं तो द्विवेदी जी के नायक कबीर। भक्तिकाल के विवेचन के दौरान द्विवेदी जी ने संत साहित्य और उनके मतों को महत्व दिया है, क्योंकि, संतों की वाणियों ने शास्त्रवाद एवं रूढ़ियों का खंडन किया है।

शुक्ल जी काव्य अथवा साहित्य को मानवीय मूल्यों, सामाजिक मूल्यों तथा जीवन से अलग करके नहीं देखते हैं। ‘काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था’ निबंध के अंतर्गत शुक्ल जी काव्य में लोक की प्रतिष्ठा करते हैं। वे लोक को कभी ‘रामराज्य’ कहलवाते हैं तो कभी ऊँचाइयों का नया आयाम देते हैं। “किसी ने ‘रामराज्य’ कहा, किसी ने ‘आसमान कि बादशाहत।” [16] ऐसे में शुक्ल जी अपने ‘लोक’ की स्थापना में शास्त्र को आधार मानकर साहित्य में स्थापित करते हैं।

भारत में 'लोक' का विशिष्ट महत्व है, क्योंकि यहाँ बहुसंख्यक लोग गाँवों से जुड़े हुए हैं। रीति-रिवाज, त्यौहार, रहन-सहन एवं खान-पान तथा जीवन के समस्त कार्य-कलाप 'लोक' से ही सम्बंधित हैं। 'लोक' का सामान्य अर्थ 'जन' एवं स्थान से है, वही दूसरी तरफ शास्त्र का अर्थ लोकोत्तर अथवा लोक से इतर माना जाता है। विद्या सिन्हा इस विषय में कहती हैं कि- "भारतीय परम्परा में लोक का बहुत विशद अर्थ है। लोक का वैदिक अर्थ प्रकाश, खुली जगह, दृश्य जगत और अर्थ मुक्त विचरण भी है। इसी कारण विकसित अर्थ है पूरा विश्व, जो तीन, सात या चौदह लोकों में विभक्त है। उत्तर वैदिक काल और महाभारत काल में लोक का अर्थ हुआ-पृथ्वी लोक और उसके निवासी लौकिक का अर्थ सामान्य जीवन और सामान्य भाषा से जुड़ते हुए इन्द्रियगोचर जीवन से सम्बन्ध हुआ। भारतीय विचार दृष्टि के अनुसार सृष्टि में निखिल ब्रह्मांड समाया है। इसमें धरती, आकाश, पाताल के आलावा सभी ग्रह, उपग्रह हैं। तीन और चौदह भुवन हैं। सृष्टि के अलग-अलग रूप लोक है।"[17] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोक का फलक बहुत व्यापक है।

नामवर सिंह 'लोक में प्रचलित जादू-टोना, टोटका, तंत्र-मन्त्र की ओर संकेत करते हैं। इस पंक्ति की व्याख्या में नामवर जी टोना, टोटका तंत्र-मन्त्र के अतिरिक्त 'लोक' में प्रचलित 'शाक्त देवियों' की चर्चा करते हैं और इसे ही 'लोक धर्म' कहते हैं।[18] 'इतिहास और आलोचना' पुस्तक में नामवर जी लिखते हैं- "लोकजीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। कविता में जब कवियों को नया मार्ग नहीं सूझता, नयी दिशाएँ मेघाच्छन्न दिखाई पड़ती हैं और पुरानी चहारदीवारी से निकलने का उपाय नहीं सूझता तो लोक शक्ति ही मशाल लेकर आगे बढ़ती हैअन्धकार को चीरती है, कुहरे को छांटती है, मार्ग को प्रशस्त करती है और दम-घुटते कवियों की संज्ञा में प्राण-वायु का संचार करती है। नया कवि इस प्राणदायिनी लोक शक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार-बार पुनर्जीवन मिलता है।"[19] लेकिन नामवर जी की धारणा लोक के प्रति बदलती हुई भी नजर आती है। वे खुद ही कहते हैं कि- "इस समझ का दूसरा पहलू है आम जनता तथा सर्वहारा को गौरव मंडित करने की भावुकता। यह वस्तुतः रोमांटिक और अन्धलोकवादी रुझान है।ताजगी और जीवन्तता लोक-संस्कृति तथा लोक साहित्य के प्राकृतिक गुण नहीं हैं।अन्धलोकवाद का ही एक और रूप है सुगम और लोकप्रिय साहित्य रूप के लिए आग्रह। इस आग्रह का परिणाम है परम्परागत चिरपरिचित रूपों और भाषा की स्वीकृति।"[20]

वस्तुतः लोक से तात्पर्य आम जनता से है। एक ऐसा समुदाय जो अपनी परम्पराओं में विश्वास रखता हो और अकृत्रिम जीवन जीने के लिए अभिशप्त हो। वर्तमान समय में देश की अधिकांश जनता अपनी सभ्यता और संस्कृति को संरक्षित करती हुई, पुरातन सभ्यताओं को आधार मानकर अपने जीवन को प्रसारित करती है। लोक साहित्य का मौखिक रूप ही महत्वपूर्ण होता है और वह अनाम होता है। अर्थात् जो अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान है उन्हें लोक की संज्ञा प्राप्त है।

निष्कर्ष

भारत में लोक का विशिष्ट महत्व है। क्योंकि यहाँ बहुसंख्यक लोग गाँवों से जुड़े हुए हैं। लोक साहित्य के अंतर्गत ग्रामीण तथा जनपदीय दोनों प्रकार के साहित्य आते हैं, क्योंकि लोक शब्द का सम्बन्ध ग्रामीण एवं जनपद दोनों ही परिवेश से है। लोक के अनेकों अर्थ बतलाया गया है। लोक का वैदिक अर्थ प्रकाश, खुली जगह, दृश्य जगत और अर्थ मुक्त विचरण भी है। उत्तर वैदिक काल और महाभारत काल में लोक का अर्थ, पृथ्वी लोक और उसके निवासी लौकिक का अर्थ सामान्य जीवन और सामान्य भाषा से जुड़ते हुए इन्द्रियगोचर जीवन से सम्बन्ध बतलाया गया है। हिंदी साहित्य के इतिहास को संस्कृत, पालि, प्राकृत, तथा अपभ्रंश आदि साहित्यिक परम्पराओं के संदर्भ में लोक की व्याख्या को देखा जा सकता है। इसीलिए यहाँ वासुदेवशरण अग्रवाल की उक्ति प्रासंगिक है- 'लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है, उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित है।'

सन्दर्भ सूची

- [1] सत्येन्द्र, "लोक साहित्य विज्ञान", राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2006, पृष्ठ-14
- [2] डॉ. कुंदनलाल उप्रेती, "लोक साहित्य के प्रतिमान", भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 2000, पृष्ठ-2
- [3] बच्चन सिंह, "आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द", वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010 पृष्ठ-98
- [4] डॉ. कुंदनलाल उप्रेती, "लोक साहित्य के प्रतिमान", भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 2000, पृष्ठ-2
- [5] डॉ. कुंदनलाल उप्रेती, "लोक साहित्य के प्रतिमान", भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 2000, पृष्ठ-4
- [6] डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, "लोक साहित्य की भूमिका", साहित्य भवन, इलाहबाद, 2013, पृष्ठ-22
- [7] डॉ. सत्येन्द्र, "लोक साहित्य विज्ञान", राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2006, पृष्ठ-15
- [8] डॉ. कुंदनलाल उप्रेती, "लोक साहित्य के प्रतिमान", भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 2000, पृष्ठ-337
- [9] नामवर सिंह, "छायावाद", राजकमल प्रकाशन, 2009, पृष्ठ-77
- [10] डॉ. कुंदनलाल उप्रेती, "लोक साहित्य के प्रतिमान", भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 2000, पृष्ठ-3
- [11] डॉ. कुंदनलाल उप्रेती, "लोक साहित्य के प्रतिमान", भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 2000, पृष्ठ-4
- [12] डॉ. कुंदनलाल उप्रेती, "लोक साहित्य के प्रतिमान", भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 2000, पृष्ठ-4
- [13] रामचंद्र शुक्ल, "हिंदी साहित्य का इतिहास", प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहबाद, 2005, पृष्ठ-10
- [14] रामचंद्र शुक्ल, "हिंदी साहित्य का इतिहास", प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहबाद, 2005, पृष्ठ-41

- [15] डॉ. रमेश तिवारी, "आलोचना के तीन आयाम", संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995, पृष्ठ-134
- [16] रामचंद्र शुक्ल (आचार्य), "चिन्तामणि", भाग-1, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2014, पृष्ठ-126
- [17] विद्या सिन्हा, "भारतीय लोक साहित्य परम्परा और परिदृश्य", प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 2011, पृष्ठ-4
- [18] नामवर सिंह, "दूसरी परम्परा की खोज", राजकमल प्रकाशन, 1983, पृष्ठ-80
- [19] नामवर सिंह, "इतिहास और आलोचना", राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-87
- [20] नामवर सिंह, "दूसरी परम्परा कि खोज", राजकमल प्रकाशन, 1983, पृष्ठ-80